संतान की संख्या न बढ़ाइए

– पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

संतान की संख्या न बढ़ाइए

लेखक

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा—२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो० : ०९९२७०८६२८९, ०९९२७०८६२८७

फैक्स : २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१३ मूल्य :७.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि
मथुरा (उ० प्र०)

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

पुनरावृत्ति सन् २०१३

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

संतान की संख्या न बढ़ाइए

बढ़ती आबादी चढ़ती समस्याएँ

इस समय संसार की जनसंख्या लगभग सात अरब बताई जाती है। वृद्धि का औसत ५ करोड़ वार्षिक प्रकट किया जाता है। इस हिसाब से अगले १०० वर्षों में लगभग इतनी ही जनसंख्या और तैयार हो जाएगी। तब इस पृथ्वी के निवासियों की समस्याएँ कितनी गंभीर हो जाएँगी, इसका अनुमान भिन्न-भिन्न विद्वानों, समितियों एवं जनसंख्या विशेषज्ञों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। ऐलिनाय विश्वविद्यालय के भौतिकशास्त्री प्रो० हीजबान फोस्टेर का कथन है—

"शुक्रवार १३ नवंबर, सन् २०२६ को मनुष्य जाति का अंत हो जाएगा। इस दिन जनसंख्या की वृद्धि अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई होगी। प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में एक वर्ग फुट जमीन आवेगी, जो मुश्किल से खड़े होने भर के लिए पर्याप्त होगी और तब लोग आपस में लड़-झगड़कर भुखमरी, अकाल और युद्ध के कारण अपने आप नष्ट हो जाएँगे।"

केलिफोर्निया औद्योगिक संस्थान के डॉक्टर जेम्स बोनर ने एक रिपोर्ट में लिखा है—"विश्व की आबादी प्रति वर्ष पाँच करोड़ के हिसाब से बढ़ रही है। यदि यही गति चलती रही और इसे रोका न गया तो कुछ दिन में ही वह स्थिति आ जाएगी कि इस लंबी-चौड़ी धरती पर पैर रखने की भी जगह न रहेगी।"

माल्थस ने जनसंख्या एवं खाद्योत्पादन के आँकड़ों में तुलना करते हुए लिखा है—"प्रजा की वृद्धि १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १२८, २५६ और खाद्य-सामग्री १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ के हिसाब से बढ़ती है। प्रजा की वृद्धि न रोकी जाए तो वह प्रत्येक

२५ वर्ष में दुगुनी हो जाती है और खाद्य-सामग्री उसका साथ नहीं दे पाती। २०० वर्षों में जनसंख्या और खाद्य सामग्री का औसत २५६ और ९ का होगा; तब यह अंदाज लगाना भी कठिन होगा कि एक व्यक्ति को प्रतिदिन कितनी खुराक मिल सकेगी? उस समय लोग केवल खाद्यान्न के अभाव में ही मर जाएँगे या एक-दूसरे को खा जाएँगे।

संसार की सबसे अधिक जनसंख्या वाले देशों में भारत का स्थान दूसरा है। इससे यह साबित होता है कि जनसंख्या की वृद्धि के अधिकांश दुष्परिणाम हम पर ही पड़ने वाले हैं। हमारे देश में जनसंख्या कितनी तेजी से बढ़ रही है, इसके कुछ आँकड़े इस प्रकार हैं—सन् १८९१ की जनगणना के अनुसार भारतवर्ष की कुल आबादी २२ करोड़ थी। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार यह संख्या ३५,६८७६३९४ हो गई। ६१ वर्षों में कुल आबादी का तीन गुना बढ़ जाना निस्संदेह बहुत अधिक चिंताजनक बात है। इनमें सिक्किम की जनसंख्या तो सम्मिलित थी परंतु आसाम के 'ख' भाग के आदिम जातीय क्षेत्रों और जम्मू-कश्मीर राज्य की जनसंख्या नहीं जोड़ी गई थी। १९५८ के मध्य में भारत की कुल जनसंख्या अनुमानतः पौने चालीस करोड़ थी; जिसमें छूटे हुए राज्य व फ्रांसीसी सरकार के द्वारा हस्तांतरित भारत में विलयित जनसंख्या भी थी। अब तक यह कुल संख्या लगभग एक अरब २१ करोड़ तक पहुँच गई है। १९५६ में प्रति हजार व्यक्तियों के पीछे जन्म-दर २७.४ तथा मृत्यु दर ११.४ थी। तात्पर्य यह कि लोगों की नियमित मृत्यु के बावजूद भी प्रत्येक ६३ वर्ष में यहाँ की आबादी दुगुनी हो जाती है।

अब विस्थापितों ने इस वृद्धि में और भी योगदान देना शुरू किया है। अकेले तिब्बती शरणार्थियों की लगभग ५० हजार और इतनी ही पाकिस्तान के विस्थापितों की संख्या होगी। वर्मा, लंका, मलाया,

सिंगापुर तथा अफ्रीका देशों के भारतीय वंशजों को यहाँ धकेला जा रहा है। इससे जनसंख्या वृद्धि के स्रोत दिनोंदिन बढ़ते ही जाते हैं। विश्व की जनसंख्या वृद्धि की तुलना में भारत की जनसंख्या वृद्धि की समस्या कहीं अधिक जटिल और विचारणीय है।

देश में जनसंख्या में वृद्धि की रफ्तार कितनी तीव्र है इसका अनुमान उन आँकड़ों से मिलता है, जो स्वास्थ्य मंत्री डॉक्टर सुशीला नैयर ने १७ दिसंबर १९६५ को एक पत्र प्रतिनिधि सम्मेलन में दिए। उन्होंने बताया—"देश में प्रति घंटा ११०० लोग बढ़ रहे हैं और आबादी में प्रति वर्ष १ करोड़ से २० लाख तक व्यक्तियों की वृद्धि हो रही है।"

अकेले केरल में, जो देश का सबसे छोटा राज्य है, १५०० शिशु प्रतिदिन जन्म लेते हैं। १२०० व्यक्ति प्रति वर्ग मील की जनसंख्या की सघनता वाले इस प्रदेश के संपूर्ण १५००० वर्ग मील के क्षेत्र की संपूर्ण जनसंख्या १८.५००००० है। जो सरकारी आँकड़े प्रकाशित हुए हैं उनमें यह बताया गया है कि इस वर्ष वार्षिक वृद्धि दर २.४ प्रतिशत है। १९७६ में केरल की जनसंख्या २४३४७००० हो जाएगी जबकि १९६१ में १६९०३००० थी। इन आँकड़ों से जनसंख्या वृद्धि की तेजी पर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इन्हें देखते हुए ही जान फोस्टर महोदय द्वारा बताए गए विश्व-विस्फोट के खतरे का संकेत सबसे ज्यादा भारत पर ही लागू होता दिखाई देने लगता है।

जनसंख्या वृद्धि में कोई कमी न हुई तो उससे समस्याएँ कितनी बढ़ जाएँगी, इसका थोड़ा-सा अनुमान लंदन के स्वास्थ्य विज्ञान के विश्वविख्यात विशेषज्ञ हर्मनवेरी के उस निबंध से किया जा सकता है जो ब्लैकपूल में स्वास्थ्य कांग्रेस की रोयल सोसाइटी में पढ़ा गया। निबंध में बताया गया है कि—

"आगामी सन् २०५० में संसार की हालत महाप्रलय से भी भयंकर हो जाएगी क्योंकि उस समय आज की आबादी बढ़कर ९ अरब हो जाएगी। तब न धरती में इतने लोगों के लिए पर्याप्त भोजन मिल सकेगा, न शुद्ध वायु न पानी और न बिजली। मनुष्यों के निवास के लिए जो मकान होंगे, उनमें केवल खड़े होने भर को जगह मिल सकेगी। उस समय संसार का सारा ईंधन समाप्त हो जाएगा। धातुओं का सारा भंडार चुक जाएगा। कहीं-कहीं तो लोग पानी के लिए भी तरसेंगे।"

अर्थशास्त्रियों की यह मान्यता है कि भारत की जनसंख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ रही है और आर्थिक सुरक्षा के लिए उसकी रोकथाम होनी चाहिए। भारत में जनसंख्या की वृद्धि के कारण भोजन, मकान तथा प्रतिदिन के प्रयोग में आने वाले सामान में बड़ी विषमता उत्पन्न हो रही है। कृषि सुधार आदि की सरकारी योजनाओं के क्रिया में आ जाने पर भी खाद्य पदार्थों की पूर्ति की विषमता ज्यों की त्यों बनी रहेगी।

अधिक जनसंख्या के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य सुधार की समस्याएँ भी बढ़ेंगी। उससे अस्पतालों, डॉक्टर और दवाओं पर जो खरच बढ़ेगा, उसका आर्थिक भार भी जनता पर ही आएगा। तो भी स्वास्थ्य समस्या का हल न हो पाएगा। आबादी जितनी बढ़ेगी, वातावरण उतना ही दूषित होगा, नई बीमारियाँ पैदा होंगी। मनुष्यों की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक कारखाने लगेंगे और उनमें चलने वाली मशीनों के शोर और मनुष्यों के कोलाहल से सारा वातावरण अशांत हो जाएगा।

शिकागो विश्वविद्यालय के प्रमुख जनगणना शास्त्री डॉ० फिलिप एम. हाउजर ने भी इसी प्रकार की सम्मति व्यक्त की है।

डॉक्टर साहब लिखते हैं—"आर्थिक विकास और जनसंख्या पर नियंत्रण दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों एकदूसरे पर आधारित हैं। आर्थिक उन्नति के लिए एशियाई देशों को अपने यहाँ आबादी बढ़ाने की रफ्तार घटानी होगी। जनसंख्या का अनुपात बढ़ेगा तो आर्थिक समस्याएँ निस्संदेह जटिल होंगी।"

भारतीय मनीषियों की दृष्टि में भी जनसंख्या वृद्धि का अभिशाप छिपा नहीं रहा। माल्थस के विचार तो बहुत बाद के हैं। शास्त्रकारों ने सदैव ही इस बात पर जोर दिया कि परिवार, समाज और राष्ट्र को समुन्नत रखना हो तो परिवार-नियमन पर बहुत अधिक ध्यान रखना चाहिए। ऐसा काम-वासनाओं पर नियंत्रण रखकर किया जा सकता है। यदि वासनाओं को स्वतंत्र बनाकर मनमानी संतान पैदा करने की उच्छृंखलता मनुष्य ने बरती तो उससे सैकड़ों व्याधियाँ उठ खड़ी हो सकती हैं। योगवाशिष्ठ में एक स्थान पर बताया गया है—

"जब किसी देश की जनसंख्या बहुत बढ़ जाती है तो वहाँ अकाल, महामारी, युद्ध या भूकंप आदि दैवी आपत्तियाँ पैदा होती हैं और प्रजा के जीवन में दुःख, अशांति एवं विक्षोभ छाया रहता है।"

जनसंख्या की अधिकता का प्रभाव नैतिक क्षेत्र में भी बहुत कड़ुआ होता है। मनुष्य का वैयक्तिक जीवन चाहे जैसा हो, पर आध्यात्मिक आकांक्षाएँ सबमें एक जैसी ही होती हैं। उदारता, प्रेम, स्नेह, सहानुभूति, सहयोग, आत्मीयता और आत्मविश्वास के साधन हर व्यक्ति को प्रिय होते हैं पर अधिक आबादी में यह सब बात पूरी तरह कहाँ संभव है। जिस प्रकार ५ रुपये १०० व्यक्तियों को बाँटने पर प्रत्येक के हिस्से में केवल ५ पैसे ही आते हैं; उसी प्रकार विविध कर्त्तव्यों का पालन भी बहुत से व्यक्तियों के साथ थोड़ा-थोड़ा ही हो सकता है। कम आय का व्यक्ति १ बच्चे का पालन-पोषण जितना अधिक रुचि और तत्परता के

साथ कर सकता है अधिक आमदनी वाला व्यक्ति ५ लड़कों का भी उतनी ही तत्परता के साथ नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में भावी पीढ़ियों की विचार प्रतिक्रियाएँ भी वैसी ही होनी अवश्यंभावी हैं। आजकल सर्वत्र नैतिक तत्त्वों का ह्रास दिखाई दे रहा है। उसका एक बड़ा कारण यह भी है कि अब जनसंख्या बहुत अधिक बढ़ गई है। यदि इसको रोकने की चेष्टा न की गई और वृद्धि का यह क्रम इसी तरह जारी रहा तो उसका आध्यात्मिक विकास, धार्मिक जीवन एवं नैतिक तत्त्वों पर भी बुरा असर पड़ेगा।

भारत में अनादि काल से परिवार नियोजन की प्रथा रही है। धार्मिक रूप से निर्दिष्ट दिन और समय में रतिक्रिया वर्जित थी और लोग विशेषकर आत्म-नियंत्रण द्वारा ही नियोजन करते थे। इन सबका विधान परिवार के स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन की दृष्टि से किया गया था। जो लोग इन धार्मिक मान्यताओं को नहीं मानते थे, उन्हें समाज में निंदनीय ठहराया जाता था। ऐसा इसलिए भी किया जाता था कि लोग कामुकता की आत्मघाती विषवृत्ति से बचे रहकर नियमपूर्वक अपने जीवन के यथार्थ उद्देश्य की पूर्ति में लगे रहें।

इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्र के हित में यह अत्यंत आवश्यक है कि बच्चों की संख्या सीमित की जाए। तभी देश की जनसंख्या को दिन-प्रतिदिन होने वाली वृद्धि के कुप्रभावों से बचाया जा सकता है।

घुटते घर लुटते भाग्य

यह अभिशाप बढ़ रहा है—संतानोत्पत्ति की क्रिया कितनी तेजी से चल रही है इस बात का पता इसी से चल जाता है कि ईसा मसीह के जन्म के समय सारे विश्व की जनसंख्या लगभग तीस करोड़ थी। जबकि आज केवल भारत और चीन की आबादी १०० करोड़ से

भी ऊपर पहुँच गई है। भारतवर्ष में कोई नियम-संयम न होने से आबादी बेरोक-टोक बढ़ रही है। यहाँ प्रति दस वर्षों में १४ प्रतिशत बच्चे और पैदा होकर आबादी में शामिल हो जाते हैं।

भारत में १४ वर्ष तक के बालक-बालिकाओं का अनुपात बहुत अधिक और ५५ वर्ष तथा उससे अधिक की आयु के लोगों का अनुपात बहुत ही कम है, जो क्रमशः ३८.३ प्रतिशत तथा ८.३ प्रतिशत है। इसी प्रकार जन्म की दर १००० व्यक्तियों के पीछे औसतन ४० रही; जबकि मृत्यु की २७, अर्थात बच्चों की संख्या प्रत्येक दशा में प्रति हजार व्यक्ति १३ बढ़ती ही रहती है। १९५२-५३ के एक सर्वेक्षण में बताया गया है कि प्रति १००० जन्मों के पीछे उत्तर-पश्चिम भारत के पाँच जिलों में पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी और उससे आगे वाली संतान का अनुपात क्रमशः २३१, २०६, १५१ तथा ४१२ था। दक्षिण भारत के २७ जिलों में यह अनुपात २२८, २१५, १८१ तथा ३७६ था। ३० नगर पालिकाओं का अलग से सर्वेक्षण किया गया। उसमें यह अनुपात क्रमशः २०, १९६, १६७ और ४२८ रहा। इन आँकड़ों से सिद्ध होता है कि बालकों की संख्या वृद्धों की अपेक्षा चार गुनी से अधिक है।

यदि परिवार छोटा रहे तो—औसत मध्य दर्जे की गृहस्थी में दो बच्चे हों तो उनका पालन-पोषण इस ढंग से किया जा सकता है कि वे सभी दृष्टियों से आगे चलकर योग्य नागरिक साबित हो सकें। भारतवर्ष निर्धन देश है। यहाँ लोगों की आय सीमित और उतनी ही होती है, जितने से वे सादगीपूर्वक मोटा-झोटा खाकर अपना पेट पालन कर सकते हैं। पर बच्चों की समुचित देखभाल धनाभाव में संभव नहीं है। बच्चे कम खाना खाते हैं, पर यदि उनको स्वस्थ रखने का लक्ष्य रखकर पौष्टिक आहार दूध, मक्खन, फल, मेवा आदि की व्यवस्था की जाए तो उसका खरच कुल परिवार के खरच का आधा बैठ जाता

है, जिसमें उनके वस्त्र, शिक्षा, खेलकूद के साधनों की आवश्यकताएँ और जुड़ी होती हैं। निर्धन परिवार अपने इस उत्तरदायित्व का पालन एक ही शर्त पर कर सकते हैं, जबकि उनके पास अधिक से अधिक दो बालक हों, अन्यथा उन बच्चों के सर्वांगीण विकास की समस्या को कोई भी सद्‌गृहस्थ ईमानदारी के साथ हल नहीं कर सकता।

विकट खाद्य-संकट—राष्ट्र का खाद्यान्न संतुलन बिगाड़ने और परिवारों में प्रत्येक व्यक्ति को अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करने की उलझन में डालने की दृष्टि से अधिक संतानोत्पादन से बड़ी गलती और कोई नहीं हो सकती। माना हमारे देश में कृषि-योग्य जमीन कम नहीं है, तो भी कितने एकड़ भूमि का खाद्य प्रति व्यक्ति के हिस्से में आवे, इस दृष्टि से हम संसार के अन्य देशों की अपेक्षा काफी पीछे हैं। पोलैंड में १०० एकड़ भूमि का उत्पादन ३२ व्यक्तियों के हिस्से में आता है। चेकोस्लोवाकिया में २४, हंगरी में ३०, रूमानिया में ३०, यूगोस्लाविया में ४२, इंग्लैंड में ६ व्यक्तियों को १०० एकड़ के उत्पादन का लाभ मिल जाता है। किंतु भारत में इतनी ही भूमि पर १४८ लोगों का पेट भरना पड़ता है। ऐसी दशा में हमें अपर्याप्त और अपौष्टिक भोजन से ही किसी तरह काम चलाना पड़ता है।

रोटी और रोजी का चक्कर—आज महँगाई के जमाने में साधारणतया परिवार के पाँच व्यक्तियों का पेट भरना मुश्किल हो जाता है, फिर इतने लंबे काफिले को खिला-पिला लेना क्या कोई आसान बात है। मेरी दृष्टि में आज किसी को नरक देखना हो तो किसी ऐसे घर में चला जाए, जहाँ बच्चों की अच्छी-खासी नुमाइश लगी हुई हो। भोजन, वस्त्र, दवा, शिक्षा, मनोरंजन आदि के अभावों से ग्रसित उन बच्चों के माँ-बाप कुछ अधिक सहायता भी नहीं कर पाते, फलस्वरूप बच्चे शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अवांछनीय बन जाते हैं। घरों में

रोज दंगे, रोज फसाद होते हैं। कहीं किसी के यहाँ से चोरी का उलाहना आता है, कहीं बच्चा अपने माँ-बाप का ही सिर फोड़ रहा है। भाइयों-भाइयों में आएदिन सरफुटौअल होती है। सारा घर हाहाकार और त्राहि-त्राहि से भरा रहता है।

एक किसान के पास २५ बीघे जमीन है और दो बच्चे हैं। १२॥-१२॥ बीघे जमीन दोनों के हिस्से में आई, यह बात समझ में आ गई। दोनों किसी तरह अपना पेट तो पाल ही लेंगे। किंतु यदि उसी किसान के ५ बेटे हो जाएँ और १५ साल के बाद उनमें से सभी ५-५ बेटों के बाप बन जाएँ तो हर बच्चे के हिस्से में केवल १ बीघे ही जमीन पड़ेगी। उससे न तो उनके पेट का गुजारा होगा और न घर, वस्त्र तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं का। ऐसी स्थिति में वे बच्चे क्या अपने माँ-बाप को आशीष देते होंगे? क्या समाज, क्या राष्ट्र, विश्व और नैतिकता, धर्म, सदाचार का आदर करते होंगे?

शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था—प्राथमिक कक्षाओं से लेकर डिग्री कक्षाओं तक बच्चे के लिए वस्त्र, पुस्तकें और दूसरी शिक्षा संबंधी आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रतिवर्ष का औसत वर्तमान में २००० रुपये से किसी भी हालत में कम नहीं हो सकता। भारतवर्ष में अधिकांश मजदूरों और किसानों की वार्षिक आमदनी वर्तमान में ७२०० रुपये से १५ हजार रुपये से अधिक नहीं है। इतनी छोटी-सी रकम में से किसी तरह दो बच्चों के लिए उनके भोजन-वसन के बाद २००० रुपये तो निकाले जा सकते हैं पर कदाचित उस व्यक्ति के ६ बच्चे हो जाएँ तो केवल १२ हजार रुपये उनकी शिक्षा के लिए ही होना चाहिए। ऐसी स्थिति में लोग सोच भी नहीं सकते कि उन्हें किस तरह पढ़ाया जाए। हमारी अशिक्षा का अभिशाप आज हमारे सामने है। १९५१ की जनगणना के अनुसार हमारे देश में कुल ६ करोड़ व्यक्ति साक्षर थे, जो कुल आबादी

के आठवें हिस्से से भी कम थे। वर्तमान समय में यह प्रतिशत ७० के आसपास है।

स्वास्थ्य—यद्यपि देश में साधारण मृत्यु दर में लगातार कमी आती जा रही है, फिर भी विश्व के अन्य देशों की तुलना में यहाँ बच्चों की मृत्यु सबसे अधिक होती है। १९५९-६० के आँकड़ों में यह बताया गया है कि प्रति १००० बच्चों के पीछे मृत्यु संख्या १३९ है। प्रति ५० बच्चों में ७ बच्चों की मृत्यु हो जाना निस्संदेह दु:खद बात है, पर ऐसा क्यों होता है, यह विचारणीय बात है। इसके मूल में भी अधिक संतानों का होना ही मुख्य कारण है। इसके कारण आकस्मिक रोग या बीमारी की स्थिति में उनके लिए इलाज की कोई व्यवस्था नहीं बन पाती। पौष्टिक तत्त्वों वाले खाद्य पदार्थ, अच्छे कपड़े, अच्छी सफाई की व्यवस्था न होने से बच्चे वैसे ही दीन, दरिद्र, रोगी और दुर्बल होते हैं, उस पर रोग और बीमारी से बचाव के कोई साधन न हो पाने से भी उनकी मृत्यु दर में कोई कमी नहीं हो पाती। यह कलंक भी उन माता-पिताओं के ही मत्थे पर है जो अधिक संतान उत्पन्न करना जानते हैं; पर उनके स्वास्थ्य की देख-रेख भी करनी है, इसका उन्हें भान भी नहीं होता।

विवाह की समस्या—भारतवर्ष में कन्याओं का विवाह करना एक अभिशाप माना जाता है। एक विवाह में जितना अधिक खरच यहाँ होता है, दुनिया के अन्य देशों में उतने से सौ शादियाँ हो सकती हैं। दहेज की विभीषिका यहाँ किसी से छिपी नहीं है। आजकल एक साधारण मजदूर-परिवार को भी एक बालिका के विवाह में कम से कम १०००० रुपया खरच करना पड़ता है। जिसकी आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी होती है; उन्हें तो एक विवाह में लाखों रुपये तक खरच करने पड़ते हैं। जातिवाद और ऊँच-नीच की भावना के कारण यह समस्या और भी गंभीर हो गई है।

यदि घर में एक ही लड़की हो तो घर वाले किसी तरह उसके लिए उचित दहेज जुटाकर अच्छा घर-वर ढूँढ़ भी सकते हैं। पर यदि किसी गृहस्थी के ४-६ लड़कियाँ हों तो उसकी कैसी दुर्दशा होती होगी, इसका थोड़ा-सा अनुमान इस समाचार से लगाया जा सकता है-

"दिल्ली का समाचार है कि एक व्यक्ति के चाय में विष मिलाकर अपनी धर्मपत्नी व ६ लड़कियों की तथा अपनी सामूहिक आत्महत्या कर ली। यह व्यक्ति पहले अपनी दो बेटियों की शादी कर चुका था। अपने पीछे छोड़े गए एक पत्र में उसने लिखा है कि मुझे दो बच्चियों के विवाह में खरच हुए रुपयों का कर्ज चुकाते हुए पाँच वर्ष हो गए। अब इन ६ की शादी कैसे होगी? मैं इस समस्या को नहीं सुलझा सका, इसलिए हमने मिलकर आत्महत्या करने का फैसला किया।"

लड़कों की आवारागर्दी—मिसेज मार्गरेट सैंगर ने, जो समाज विज्ञान की एक मानी हुई मनीषी और विद्वान लेखिका हैं; इस विषय में कहा है—"मैंने संसार के अनेक देशों में हजारों ऐसे बच्चों को देखा जो अनाथ एवं अपराधियों जैसी दशा में थे, उनकी हालत को कोई पूछने वाला न था। इसका कारण केवल यही था कि उन लोगों ने संतति नियमन का महत्त्व न समझा और अपनी पालन करने की क्षमता से अधिक संतानें पैदा करते चले गए।"

भारत में यह स्थिति बड़ी गंभीर है। बड़ी मात्रा में लड़के आवारा, भिक्षा-व्यवसाय तथा अपराधों में गुंडों द्वारा व्यवहृत होते हैं। अनाथालयों में भी उनकी संख्या बहुत अधिक है। माँ-बाप के निधन से उनकी देख-रेख करने वाला नहीं रह जाता तो यह बच्चे समाज के लिए अभिशाप ही बनते रहते हैं। माता-पिता हों भी तो बहुत बड़ी फौज को अनुशासन में रखना उनके वश की बात नहीं होती। ऐसे बच्चे

स्वेच्छाचारी होकर समाज में आवारागर्दी, गुंडागर्दी एवं अनैतिकता बढ़ाते फिरते हैं। जिन बच्चों को माता-पिता नियंत्रण में न रख सकें उनकी तादाद बढ़ाने से फायदा कुछ नहीं होता, आपत्तियाँ भीषण रूप से बढ़ जाती हैं और उनके सामूहिक दुष्परिणाम सारे राष्ट्र को भुगतने पड़ते हैं।

अधिक संतान से रोग और शोक—अधिक संतान उत्पन्न करने वाली माताएँ एवं पुरुष शारीरिक निर्बलता, दिमागी कमजोरी, जुकाम, खाँसी, दिल की धड़कन एवं अन्य गुप्त यौन रोगों से भी ग्रसित पाए जाते हैं। प्रदर और प्रमेह के सबसे अधिक बीमार भारत में पाए जाते हैं। पुरुषों में मूत्रग्रंथि, प्रमेह, रीढ़ की हड्डी में दरद, कमर में दरद, स्वभाव चिड़चिड़ा और बकवादी होना, बहुमूत्र, मूत्र-त्याग में पीड़ा, मूत्राघात और पेशाब का मूत्रनलिका से न निकलना, स्वप्नदोष, शीघ्र पतन, पेट के नीचे का भाग फूल जाना, गरमी एवं सुजाक जैसी गंदी बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं।

हमारे घरों की बालिकाएँ विवाह होने के मुश्किल से चार-पाँच वर्षों के बाद ही बुढ़ियों जैसी पीली पड़ जाती हैं, उनका सारा सौंदर्य खो जाता है। अनियंत्रित काम-वासना और बहुत संतान पैदा करने के दुष्परिणाम शारीरिक व मानसिक रूप से आज हमारे देश के ९९ प्रतिशत परिवारों को भोगने पड़ रहे हैं।

पारिवारिक अशांति और प्रेम का अभाव—बच्चे बहुत बढ़ जाते हैं तो न तो पत्नी अपने पति के प्रति कर्त्तव्यों का समुचित ढंग से पालन कर पाती है और न ही पति को इतना अवकाश मिलता है कि वह कुछ क्षण अपने जीवनसाथी के समीप बैठकर उसके सुख-दुःख की बातें जान सके। उससे प्रेम, स्नेह, सद्भाव एवं संवेदना प्रकट कर सके। फलस्वरूप भरे-पूरे परिवारों में भी अशांति एवं असंतोष

छाया रहता है। यह दुर्दशा हमारे देश में प्रायः हर गृहस्थ की हो रही है।

अशिक्षा, दरिद्रता, बीमारी—अभाव एवं मानसिक कुंठाओं से ग्रस्त परिवार किसी राष्ट्र की शक्ति के नहीं वरन दुर्बलताओं एवं कठिनाइयों के ही द्योतक हो सकते हैं। या तो जनसंख्या के अनुरूप साधन उत्पन्न किए जाने चाहिए अन्यथा साधनों के अनुरूप जनसंख्या को सीमित रखना चाहिए। दोनों का संतुलन रहना आवश्यक है। यदि वह असंतुलित होता है और साधनों की तुलना में आबादी बढ़ती है तो उसका प्रतिफल बीमारी, अकाल मृत्यु, दुर्बलता, गंदगी, दीनता, अशिक्षा, बेरोजगारी, अपराध, कलह एवं अशांति के रूप में ही दृष्टिगोचर हो सकता है। दुर्भाग्य से हमारा समाज इन विभीषिकाओं एवं दुर्दशाओं का पूरी तरह शिकार है। जनसंख्या वृद्धि की घुटन में लोगों के भाग्य उजड़ते जा रहे हैं।

जनसंख्या वृद्धि की सतह में

सन् १९११ में भारत जबकि ब्रिटिश सत्ता के अधीन था, जनगणना की गई थी और जनसंख्या वृद्धि के कारणों को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया गया था। जो आँकड़े इकट्ठे किए गए थे, उनमें एक बात प्रमुख रूप से सामने आई कि जनसंख्या वृद्धि का एक बड़ा कारण अशिक्षा तथा निर्धनता है।

अशिक्षा और निर्धनता का अभिशाप—इस बात की पूर्णतया पुष्टि के लिए विभिन्न प्रकार की आर्थिक स्थिति के कामकाजियों की संतानों के आँकड़े इकट्ठे किए गए, उनसे स्पष्ट हो गया कि जनसंख्या वृद्धि में अशिक्षा तथा निर्धनता का महत्त्वपूर्ण हाथ है। ये आँकड़े ५५ वर्ष की आयु के नीचे एक हजार दंपत्तियों को औसत मानकर निकाले गए थे—

१. विचारक, लेखक, विद्वान, धनी एवं लोकसेवी	९५
२. डॉक्टर	१०३
३. अध्यापक	१०४
४. पुलिस के लोग	१०३
५. डाकिए आदि	१५९
६. ड्राइवर	२९७
७. बंदरगाहों के मजदूर, कुली आदि	२३१
८. होटल के मजदूर	२३४
९. खानों के मजदूर	२४८
१०. आम मजदूर	४३८

उपर्युक्त आँकड़े क्रमवार आर्थिक स्थिति के व्यक्तियों के अनुसार सजाए गए हैं। इनमें देखने में आता है कि जिन व्यक्तियों के आर्थिक ढाँचे के साथ शिक्षा का स्तर भी विकसित था; उनके घरों में संतानें कम जन्म लेती हैं और जिनकी आमदनी कम होती है तथा अशिक्षित होते हैं, उनके घरों में बच्चे अधिक जन्म लेते हैं।

भारतवर्ष में जनसंख्या की वृद्धि का यह मुख्य कारण रहा है। अशिक्षा और निर्धनता दोनों ही यहाँ बहुत दिनों से समान स्तर पर चलती आ रही हैं। १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत में कुल ६ करोड़ व्यक्ति साक्षर थे। यह संख्या कुल आबादी की १.९ प्रतिशत से भी कम थी। १९४८-४९ में राष्ट्रीय आय ८६.५० अरब रुपये थी, जो प्रति व्यक्ति २६० रुपये वार्षिक थी। इस कमाई से एक व्यक्ति का एक वर्ष का पेट का ही गुजारा करना कठिन है। फिर अन्य जीवन-विकास की समस्याएँ तो यों ही अधूरी रह जाती हैं और उनसे निश्चित रूप से मानसिक उच्छृंखलता का ही विकास होता है।

निर्धनता मनुष्य की मानसिक दशा को मनोवैज्ञानिक ढंग से कमजोर बना देती है। सुखोपभोग की कामना ज्यों की त्यों बनी रहने से उनके लिए काम-वासना ही एकमात्र खुला क्षेत्र रह जाता है। फलस्वरूप संतानें भी बढ़ती जाती हैं और उनके लिए और भी समस्याएँ उत्पन्न कर देती हैं। उनसे जन-उत्पादन का यह क्रम कम नहीं होता, वरन उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है।

मनोरंजन के साधनों का अभाव—शरीर के अन्य अवयवों की तरह मन भी व्यायाम चाहता है। यह उसे खेल-कूद, हँसी-खुशी और मनोविनोद से मिलता है। कदाचित मन के लिए ऐसी व्यवस्था न हो सकी, तो फिर वह अधोगामी सुखों की ओर ही आकर्षित होता है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्राइड का कथन है—"जो लोग खेलते-कूदते नहीं, उनमें कामुकता की प्रवृत्ति अधिक होती है।" यह बात हमारे दैनिक जीवन में स्पष्ट देखी जा सकती है। विदेशों में खेलों आदि पर बड़ा ध्यान दिया जाता है। शाम को ५ बजे के बाद लोग काम छोड़ देते हैं और मैदान में निकल आते हैं। क्लबों में, तालाबों और नदियों में खेलने-कूदने, तैरने आदि से मानसिक थकावट दूर हो जाती है। घर आते-आते तक शरीर थक जाता है, तब उसे केवल विश्राम की इच्छा होती है। कामुकता केवल उन्हें परेशान करती है, जिनका शरीर अस्त-व्यस्त, सुस्त और ढीला होता है। इसका प्रभाव भी निश्चित रूप से जनसंख्या की वृद्धि पर पड़ता है।

जनसंख्या नियंत्रण एक संसारव्यापी समस्या—संतानोत्पत्ति के संबंध में किसी प्रकार की मर्यादा या विचारशीलता का पालन न करना केवल व्यक्तिगत दृष्टि से ही हानिकारक और संकटजनक नहीं है; वरन यह एक ऐसी जगद्व्यापी समस्या है, जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव सभी को सहन करना पड़ता है। इसके कारण संसार में

ऐसी नई-नई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो रही हैं कि यदि उनका कोई उपाय न किया गया तो निकट भविष्य में ही मानव जाति को सुख-शांति की आशा छोड़कर घोर दुर्दशा में जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। इस संबंध में अनेक विद्वानों ने जो कुछ कहा है, उसका निष्कर्ष इस प्रकार है—

(१) अब यह भलीभाँति सिद्ध हो चुका है कि जनसंख्या की अतिरिक्त वृद्धि और युद्धों में घनिष्ठ संबंध है। इसका भय उन देशों में विशेष रूप से होता है जो उद्योग-धंधों के क्षेत्र में बढ़े हुए हैं और जिनमें राष्ट्रीयता का भाव भी जोरों पर होता है। इसके दो बड़े उदाहरण जर्मनी और जापान उपस्थित कर चुके हैं। सन् १९१४ के महायुद्ध के पूर्व जर्मनी की माताओं में यह भाव फैलाया गया कि उनका कर्त्तव्य अधिक से अधिक लड़के पैदा करना है, जो राष्ट्र के लिए सैनिक बनकर युद्ध कर सकें। इस कारण उस देश की जनसंख्या बहुत बढ़ गई और जब उसका पालन करना कठिन हुआ तो शीघ्र ही युद्ध की नौबत आ गई। यही नीति जापान ने सन् १९३९ वाले द्वितीय महायुद्ध से पूर्व अपनाई थी। जब वहाँ की जनसंख्या काफी बढ़ गई और लोगों के सामने जीवन निर्वाह की कठिन समस्या उपस्थित हुई तो उसने बिना किसी खास कारण के चीन पर हमला कर दिया और उसके 'मंचूरिया' प्रांत पर अधिकार जमा लिया। आजकल चीन भी इसी स्थिति में पहुँच गया है। अपनी लगभग १३० करोड़ की सर्वाधिक जनसंख्या के भरण-पोषण की समस्या को न सुलझा सकने के कारण वह भी युद्धाग्नि को भड़काने के कार्य कर रहा है।

(२) सामाजिक दृष्टि से विचार करने पर भी यह दिखलाई देता है कि जिस जाति और समाज में संतान की संख्या पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं होता, वह अधिक समय तक उन्नत दशा में नहीं रह सकता। प्रकृति के स्वाभाविक नियमानुसार यदि प्रजनन का क्रम निर्बाध

रूप से चलता रहे तो जनसंख्या आवश्यकता से इतनी बढ़ जाएगी कि उसके लिए जीवन-निर्वाह की पूर्ण सामग्री प्राप्त हो सकना असंभव हो जाएगा। इसका परिणाम यह होता है कि समाज में क्षीणकाय, निर्बल मस्तिष्क और अनेक दोषों तथा रोगों से ग्रसित व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाती है तथा योग्य, सामर्थ्यवान और प्रतिभाशाली कम होते जाते हैं। कारण यह है कि उच्च श्रेणी के समझदार व्यक्ति जब देखते हैं कि उनकी आमदनी अधिक बच्चों का पालन कर सकने योग्य नहीं तो वे स्वयं किसी अन्य उपाय द्वारा संताननिग्रह करने लगते हैं। पर अशिक्षित और निम्न कोटि के व्यक्ति, जिनको समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य और संतान-पालन के उत्तरदायित्व का कुछ ज्ञान नहीं होता, बिना रोक-टोक के बच्चे उत्पन्न करते रहते हैं। इस प्रकार समाज में निम्न कोटि के व्यक्तियों की संख्या अधिक होती जाती है और आगे चलकर उसका पतन हो जाता है।

(३) व्यक्तिगत दृष्टि से संतान-निग्रह की सबसे अधिक आवश्यकता निर्धन-वर्ग के लोगों को है। चाहे वे संतान-निग्रह के तथ्यों को न समझते हों; फिर भी अधिक संतान उत्पन्न होने से वे परेशान ही होते हैं। जब कभी इस संबंध में जाँच की गई है तो यही प्रतीत हुआ है कि ऐसे लोगों के बच्चे उनके हर्ष का कारण नहीं होते वरन वे उनकी अनिच्छा से ही होते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि साधनों की कमी से गरीब श्रेणी की स्त्रियों को ऐसे अवसर पर बहुत अधिक मुसीबतें उठानी पड़ती हैं। पाठक स्वयं विचार करके देखें कि जिस स्त्री की देह में पौष्टिक खाद्य के अभाव से रक्त-मांस की कमी रहती है, इसके कारण जो प्रायः बीमार भी रहते हैं, बार-बार संतानोत्पत्ति के कारण जिसकी जननेंद्रिय भी विकृत हो गई है, जिसे किसी गंदी अंधकारपूर्ण कोठरी में समय बिताना पड़ता है, घर की देख-भाल, भोजन बनाना, चौका बरतन, बच्चों की

सेवा आदि तमाम कार्य अकेले ही करने पड़ते हैं, उसको प्रतिवर्ष या दूसरे वर्ष बच्चा उत्पन्न होना कितना यंत्रणादायक होगा।

ऐसे परिवारों में बच्चों के प्रति उपेक्षा या उदासीनता का भाव हो जाना भी अस्वाभाविक नहीं है। यद्यपि कर्त्तव्यपालन की दृष्टि से माता को उनकी देख-भाल करनी ही पड़ती है, पर मातृ स्नेह का स्वाभाविक झरना ऐसी घटना के बार-बार होने से शुष्कप्राय हो जाता है। ऐसे बच्चे जब कुछ समय के बाद दुनिया से चल बसते हैं, तो माता थोड़ी देर शोक करके 'भगवान की मरजी ऐसी ही थी' यह कहकर संतोष कर लेती है।

खेद की बात है कि इसी श्रेणी की स्त्रियाँ संतान-निग्रह के विषय में प्राय: अनजान होती हैं और यदि किसी प्रकार उनको कुछ मालूम भी हो जाता है तो वे इतनी अधिक नासमझ और सभयवादिनी होती हैं, कि इस संबंध में कुछ चेष्टा करना उनके लिए संभव ही नहीं होता। ऐसी स्त्रियों के मुँह से इस संबंध में प्राय: इस प्रकार के वाक्य सुनने में आते हैं कि जो कुछ सर पर आ पड़े उसे भोगना ही होगा या जो भाग्य में बदा है वह होकर ही रहेगा अथवा भगवान की मरजी के खिलाफ हम क्या कर सकते हैं? पर समय आ गया है कि इन बातों के संबंध में अब हमारी सामान्य जनता भी समझदारी से काम ले। वर्तमान समय में कठिन आर्थिक कठिनाइयों और दिन-प्रतिदिन की बढ़ती हुई महँगाई को देखते हुए बिना सोचे-समझे संतानोत्पादन एक अभिशाप ही सिद्ध होगा।

सिनेमा और अश्लील साहित्य—हमारा साहित्य भी विकारों की उत्तेजना के लिए कम उत्तरदायी नहीं है। आज जो साहित्य बाजारों में रसकाव्य, साहित्य का प्राण या सौंदर्य-बोध कहकर बेचा जा रहा है, वह अधिकांश अनैतिक दुष्प्रवृत्तियों और कामुकता को प्रोत्साहन

देने वाला है। ख्यातिप्राप्त पत्रिकाओं में भी सिने-तारिकाओं के चित्र या उनकी प्रशंसा के लेख छपते हैं। रसों में अब एक शृंगार रस ही रह गया है और वही यत्र-तत्र देखने को मिलता है। इस प्रकार के काव्य और साहित्य का पाठक के मन पर कितना घातक प्रभाव पड़ता है; यह आज के युवक-युवतियों में स्पष्ट देखा जा सकता है।

साहित्य से भी बढ़कर सिनेमा बुराई पैदा कर रहे हैं। इनमें दिखाए जाने वाले अश्लील चित्रपट, गंदे अभिनय, भद्दे मजाक, कुत्सित प्रदर्शन, घृणित संवाद, इंद्रिय उत्तेजना बढ़ाने वाले नृत्य एवं गंदे गाने विकारों को उत्तेजित करते हैं और सामाजिक जीवन में रुचि उत्पन्न कर उसे हर प्रकार से पतन की ओर अग्रसर कर रहे हैं।

छोटे-छोटे बच्चे जिन्हें किशोरावस्था से नैतिक प्रशिक्षण मिलना चाहिए था। सिनेमा उन्हें (१) उच्छृंखल प्रेम, (२) फैशन और (३) व्यसन की बातों का विशेषज्ञ बना देता है। भोले-भाले बच्चे विचार और आचरण से प्रारंभिक अवस्था में ही पथभ्रष्ट हो जाते हैं और उसके दुष्परिणाम उन्हें वैवाहिक जीवन में देखने को मिलते हैं। पारिवारिक जीवन के अनेक उपद्रवों में बहु-संतान को जन्म देना भी एक मुख्य उपद्रव है और उसका अधिकांश श्रेय इन सामाजिक विकृतियों को है।

खान-पान की असावधानी—यह बीमारी भी अब भारतीय जीवन में सामान्य हो गई है। अन्न के संस्कार सूक्ष्म रूप से मनुष्य के जीवन की सभी गतिविधियों का संचालन करते हैं, इसलिए हमारे यहाँ भोजन की पवित्रता पर इतना अधिक ध्यान दिया गया था। व्यवस्था बनाई गई थी कि लोग मांस, मदिरा, प्याज, लहसुन, मिर्च और मसालों का प्रयोग न करें। पर आज स्थिति ठीक इससे विपरीत हो गई है। खुले आम बाजारों में, सड़कों के किनारे, होटलों में चाय, कचौड़ी,

पकौड़ी आदि बासी, अभक्ष्य, घृणित पदार्थ खाने में न तो लोग बुरा मानते हैं और न हानि अनुभव करते हैं, पर भोजन की इस अपवित्रता का भी व्यावहारिक जीवन में बड़ा बुरा असर पड़ता है।

अत्यंत गरिष्ठ, अस्वाभाविक, तीखा, कड़ुआ, चरपरा, नीरस और अभक्ष्य भोजन ग्रहण करने से कामवासना सहज ही में उद्दीप्त हो जाती है। अब लोगों का यह उद्देश्य नहीं रहा कि भोजन परमात्मा का प्रसाद है और सात्विकता और स्वास्थ्य की दृष्टि से ग्रहण करना चाहिए। सच तो यह है कि अब लोग खाने के लिए जीते हैं। मानसिक दासता और मनोबल के अभाव के कारण बहुत करने पर भी लोग कामुकता से नहीं बच पाते, न चाहते हुए भी बच्चे पैदा होते चले जाते हैं।

विवाह के उद्देश्य, मातृत्व की पवित्रता—इसको अब लोग विस्मृत करते चले जा रहे हैं। विवाह का उद्देश्य अब केवल भोगवाद रह गया है। समाज को स्वस्थ और सद्गुणी संतान देने की अपेक्षा दुर्बल और दुर्गुणी बच्चे पैदा करते चले जाने का यही मुख्य कारण है। नारी को लोग भोग और प्रजनन की मशीन मानते हैं। मातृत्व की विडंबना का कुफल भी हमें अपने जीवन के सभी क्षेत्रों में देखने को मिल रहा है। आजकल विवाहों में पवित्र जीवन जीने और स्वस्थ रीति से बच्चों के पालन-पोषण का उद्देश्य नहीं रहा। विगत महायुद्ध में फ्रांस की पराजय का कारण लिखते हुए मार्शल पेताँ ने लिखा है—"वहाँ के लोगों को अमर्यादित भोगवाद ने निकम्मा कर दिया था, उनके बच्चे किसी काम के न थे, स्वयं उनमें भी लड़ने की क्षमता का बिलकुल अंत हो गया था।"

कम उम्र में ब्याह—गलत दृष्टिकोण के व्यापक प्रसार के कारण अपरिपक्व दिमाग के लोग बच्चों का छोटी उम्र में ब्याह कर

देते हैं। भारतवर्ष ऐसा अभागा देश है, जहाँ सबसे कम उम्र में बच्चों के ब्याह कर दिए जाते हैं। जनसंख्या की वृद्धि कुछ इस बात पर भी निर्भर करती है कि लड़के-लड़कियों के विवाह किस उम्र में किए जाते हैं। उत्तर प्रदेश में १५ और ४९ वर्ष की आयु की विवाहित महिलाओं की संख्या राज्य की कुल जनसंख्या की २० प्रतिशत है। १५ वर्ष और उससे अधिक आयु की केवल १.५ प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में और ४.५ प्रतिशत शहरी क्षेत्रों में अविवाहित हैं। शेष विवाहितों में अधिकांश संख्या १० और २० के बीच में ही है।

छोटी उम्र में ही विवाह होने से लड़के-लड़कियों में अस्वाभाविक संगमेक्षा प्रबल हो जाती है, फलस्वरूप उन्हें जल्दी-जल्दी संतानें होने लगती हैं। जमालशाही, वेरुआघाट तथा जुम्मनपुर के तीन गाँवों के ऐसे ३७ व्यक्तियों के पर्यवेक्षण का पिछले दिनों एक ऐसा समाचार छपा था, जिसमें यह बताया गया था कि अल्पायु में विवाहित इन २७, २९ और ३१ वर्षों के किसानों को क्रमशः ८, १० और १२ संतानें हो चुकी हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि संतान उत्पादन का क्रम कितनी छोटी उम्र में प्रारंभ हो गया और उसकी अंतिम स्थिति क्या होगी?

बहु-विवाह की दुष्ट प्रवृत्ति—हमारे यहाँ धनीमानी लोग अब भी दो-दो तीन-तीन शादियाँ कर लेते हैं। हमारे एक परिचित ऐसे ही हैं जिनकी तीन स्त्रियाँ हैं और इन तीनों से उन्हें क्रमशः ५, ३, ७ पुत्र-पुत्रियों की उपलब्धि हुई है। अंतिम बच्चा उन्हें ७१ वर्ष की आयु में हुआ। उनके सभी बच्चे जीवित हैं और सभी उनके नाम को रोया करते हैं।

यह दशा हमारे देश में कितने ही क्षेत्रों में फैली हुई है। दहेज की प्रथा के कारण छोटी जाति के निर्धन व्यक्ति बड़ी जमात वालों की

ख्वाहिशें पूरी नहीं कर पाते। अत: मजबूर होकर उन्हें ऐसे लोगों के या बूढ़ों के साथ अपनी बच्चियों की शादी कर देनी पड़ती है, जिनके पहले ही पत्नी मौजूद है। ऐसे व्यक्तियों की संख्या उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र आदि प्रांतों में बहुत अधिक है।

पुत्री नहीं, पुत्र चाहिए—हिंदू समाज में यह धारणा भरी है कि जिसके बच्चे न होंगे, वह स्वर्ग और मुक्ति का अधिकार प्राप्त न कर सकेगा। लड़के वंश चलाते हैं, वृद्धावस्था में आराम देते हैं, तर्पण और पिंडदान देते हैं। इस मृगतृष्णा ने जनसंख्या बढ़ाने में बड़ा सहयोग प्रदान किया है। प्रारंभ में यदि किसी को २-३ लड़कियाँ हो जाएँ तो वह इसी बात से घबड़ा जाता है कि कहीं उसके पुत्र पैदा ही न हो। पुत्र का मुख देखने के लिए स्त्रियाँ बार-बार प्रसव का कष्ट उठाती हैं। पुरुष अपनी शारीरिक शक्तियों को बरबाद करता है। पुत्र हो या न हो, यह दूसरी बात है, पर संतान की पैदावार तो बढ़ती ही जाती है।

संतति निरोध की जानकारी का न होना—उपर्युक्त सर्व-सम्मत कारणों से जनसंख्या में तीव्रता से वृद्धि होती जा रही है। संसार के विचारवान लोग एवं सरकार इस प्रश्न से कितनी चिंतित है, इसका कुछ अंदाज ब्रिटेन के जीवन विज्ञान शास्त्री सर जुलियन हक्सले के समाज-सुधार सम्मेलन पर आयोजित एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अध्यक्ष पद से दिए गए भाषण से चलता है। उन्होंने कहा—"मानव जाति को अपनी संख्या वृद्धि से खतरा पैदा हो गया है। यह प्रश्न राष्ट्र संघ की वृहत सभा में उठाया जाना चाहिए और इस आने वाले मानवीय संकट को हल करने के लिए विश्वव्यापी पैमाने पर मिल-जुलकर बड़े रूप में प्रयत्न किया जाना चाहिए।"

अधिक बच्चे उत्पन्न करना एक सामाजिक अपराध

विश्व की तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या अनेक समस्याओं तथा चिंताओं का कारण बनी हुई है। विशेषज्ञों का कथन है कि यदि जनसंख्या में इसी गति से वृद्धि होती रही तो २०२५ ई० तक संसार की आबादी ९ अरब हो जाएगी। यदि जन्म दर घटाई न गई तो एक दिन ऐसा आएगा कि धरती पर लोगों का खड़े होना भी कठिन हो जाएगा। वस्तुतः जनसंख्या की बाढ़ परमाणु अस्त्रों से भी अधिक घातक है, क्योंकि वे तो मानव-देह को ही नष्ट करते हैं। परंतु तीव्रता से बढ़ती हुई आबादी इतनी विकट समस्याएँ उत्पन्न करती है कि वे मानव का आत्मगौरव तथा आत्मशक्ति ही नष्ट कर देती हैं।

अन्य देशों की अपेक्षा हमारे देश में जनसंख्या अधिक तीव्रता से बढ़ती जा रही है। इस दृष्टि से चीन के बाद हमारा ही स्थान है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि सभी क्षेत्रों में असंख्य समस्याएँ खड़ी हो गयी हैं। न लोगों को खाने को पौष्टिक भोजन मिलता है और न रहने को शुद्ध जलवायु तथा समुचित स्थान। शैक्षणिक सुविधाएँ भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं हो पातीं। स्कूलों तथा कॉलिजों में अनेक छात्र-छात्राएँ प्रवेश पाना चाहते हैं, परंतु वहाँ भी स्थान का अभाव है। आर्थिक दरिद्रता बढ़ती जा रही है। आम जनता को तन ढकने को वस्त्र भी पूरी तरह से उपलब्ध नहीं हैं। हमारे यहाँ साल भर में औसत रूप से एक व्यक्ति १६ गज कपड़े का उपयोग करता है। जबकि अमेरिका में प्रति व्यक्ति ४० गज से भी अधिक वस्त्रों की खपत है। बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ बेकारी की समस्या भी सुरसा

के मुख की भाँति बढ़ती ही जा रही है, जिससे देश की युवा शक्ति का ह्रास हो रहा है तथा उसमें विविध कुंठाएँ तथा अपराध बढ़ रहे हैं।

यदि हम देश के प्रति सच्चे अर्थों में वफादार बनना चाहते हैं तो हमारा प्राथमिक कर्त्तव्य है कि अधिक बच्चे उत्पन्न कर समस्याएँ न बढ़ाएँ। प्राचीन समय में तो महामारियों तथा प्राकृतिक विप्लवों के द्वारा प्रकृति स्वयं ही जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण कर लेती थी, परंतु आज हमने रोगों पर, अकाल तथा प्राकृतिक बाधाओं पर भी विजय प्राप्त कर ली है। परिणाम यह हुआ है कि एक ओर जहाँ जन्मदर में वृद्धि हो रही है, मृत्युदर घटती जा रही है।

किसी भी देश की संपन्नता, समृद्धि तथा प्रगति उसके नागरिकों के स्वास्थ्य, शिक्षा, नैतिकता तथा आर्थिक स्थिति और उत्पादन से संबद्ध होती है। विश्व के कई देश अपनी इन्हीं शक्तियों के बल पर प्रगति की दौड़ में हमसे आगे निकल गए हैं।

हमारे धर्मशास्त्रों में भी परिवार नियोजन या संतति-निग्रह पर बल दिया गया है। ब्रह्मचर्य साधना की बात उनमें पग-पग पर कही गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् में संतति-निरोध के लिए विशेष मंत्रों का पाठ वर्णित है। आयुर्वेद के एक प्राचीन ग्रंथ में भी तुलसी के प्रयोग द्वारा गर्भ-निरोध की बात कही गई है। मनु का भी कथन है कि मनुष्य को एक ही संतान उत्पन्न करनी चाहिए, अधिक नहीं। प्रथम संतान ही धर्मज्ञ होती है। योग तरंगिणी में भी जन्म-निरोध के उपायों का उल्लेख किया गया है।

वस्तुतः यदि एक संतान को ही सर्वगुणसंपन्न बनाया जाए तो वही देश के प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि है। इसी में हम सबका हित निहित है। बच्चे उत्पन्न करना आज दो व्यक्तियों का वैयक्तिक विषय

नहीं रहा है अपितु इससे समस्त मानव जाति का सुख-स्वास्थ्य प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हो रहा है।

देश, काल व परिस्थितियाँ उग्र रूप से प्रत्येक नागरिक से इसी बात की अपेक्षा रखती हैं कि वह अधिक संतान का मोह त्यागकर मर्यादित जीवन जीए तथा एक या दो ही बच्चे उत्पन्न कर उन्हें सुयोग्य नागरिक बनाने का लोकहितकारी दृष्टिकोण अपनाए।

अंधाधुंध प्रजनन हर दृष्टि से अदूरदर्शितापूर्ण

ब्रह्मचर्य के अधिकाधिक पालन और संतान संख्या के नियमन को भारतीय धर्म और संस्कृति में सदा से महत्त्व दिया जाता रहा है। बहुसंख्यक संतान उत्पन्न करने वाले सदा विपत्ति में फँसते रहे हैं। घर में नए मेहमान आमंत्रित करने से पूर्व यह देखना ही चाहिए कि उनके स्वागत-सत्कार की उपयुक्त सामग्री पास में है या नहीं। जिन महिलाओं के शरीर में अपनी जीवनयात्रा ढोने से बचा हुआ अतिरिक्त रक्त-मांस नहीं है, वे अपने ऊपर जीवन-संकट ओढ़कर ही प्रजनन का जोखिम भरा दुस्साहस कर सकती हैं। बच्चे आखिर माता का ही रस-रक्त तो दूध के रूप में पीते हैं। यदि वह पदार्थ शरीर में फालतू नहीं है तो संतान का शौक पूरा करना अपने ऊपर प्राणघातक विपत्ति मोल लेना है।

कई व्यक्ति अपनी पत्नियों के रोगी-दुर्बल होते हुए भी संतान के लिए अति उत्साह दिखाते हैं। वे एक प्रकार के किसी काल्पनिक सुख के लिए पत्नी के प्राणघाती हत्यारे ही कहे जाएँगे। शरीरशास्त्रियों के अनुसार प्रसव-वेदना का कष्ट, घाव और रक्त प्रवाह उतना भयंकर होता है जितना दस बार छुरे घोंपने का घातक आक्रमण। इस विपत्ति से जूझते हुए प्रायः पंद्रह प्रतिशत महिलाएँ अपनी जान प्रसूति काल में ही गँवा देती हैं। संतान की कल्पनात्मक हवस पूरी करने के लिए जिन्होंने

अपनी पत्नी को इस वेदना में धकेलने की ठान ठानी हो, उन्हें यह नहीं कहना चाहिए कि पत्नी-प्रेम भी उनकी दृष्टि में कोई चीज है। उसके जीवन-मरण से भी उनका कोई सहृदयतापूर्ण संबंध है।

अधिक प्रजनन के पक्ष में कई बार ऐसी लचर दलीलें पेश की जाती हैं, जो एक बार तो सारगर्भित भी प्रतीत होती हैं; पर जब गहरी दृष्टि से देखते हैं तो प्रतीत होता है कि उनमें भावी परिस्थितियों की कल्पना कर सकने की असमर्थता ही झाँकती दिखाई पड़ती है।

यह कहा जाता है कि पिछड़े हुए लोग जनसंख्या की वृद्धि अधिक करते हैं। उन्हें नियंत्रण की बात समझ नहीं आती, समझदार लोग ही इस प्रकार का संयम करते हैं। फलतः अच्छे लोगों की संतानें घटती जाएँगी और पिछड़े लोग बढ़ जाएँगे। फलस्वरूप भविष्य में उन्हीं का बहुमत हो जाएगा। यह आशंका इसलिए निरर्थक है कि जो समझदार लोग समाजहित को ध्यान में रखकर संतानोत्पादन से हाथ खींचेंगे वे अपनी क्षमता को समाजहित में ही लगावेंगे और पिछड़े वर्ग को सुविकसित बनाने में लगेंगे। ऐसी दशा में कोई पिछड़ा रहेगा ही नहीं। विद्वान, धनवान, गुणवान, प्रतिभावान वर्ग के लोग आज तो अपने और अपने बाल-बच्चों के लिए ही अपनी समस्त क्षमता खरच करते रहते हैं। जब वे संकीर्णता की परिधि से ऊपर उठकर समाजहित की बात सोचने लगेंगे और प्रजनन पर नियंत्रण स्वीकार करेंगे, तो स्वभावतः उनमें उतनी उदारता भी जागेगी कि अपनी विभूतियों को पिछड़े हुए लोगों का पिछड़ापन दूर करने में नियोजित करें। ऐसी दशा में देश के सभी बच्चे उनके अपने बच्चे होंगे और यदि उन पर उच्च वर्ग का ध्यान बना रहा तो फिर वे बालक उसी भूमिका को संपन्न करेंगे, जो उच्च परिवारों में उत्पन्न हुए साधन-सुविधाओं में पले बालक कर सकते हैं। सच तो यह है कि अमीरी में जन्मे बालकों की अपेक्षा

गरीबी में जन्मने वालों को यदि अवसर मिले, तो वे कहीं अधिक तीव्रगति से प्रगति कर सकते हैं।

इसी प्रकार यह सोचना भी बेतुका है कि हिंदू लोग ही संतानोत्पादन सीमित करने की बात पर ध्यान देते हैं। मुसलमान इस आंदोलन में उतना उत्साह नहीं दिखाते। ऐसी दशा में मुसलमानों की संख्या बढ़ती जाएगी, हिंदू उनकी तुलना में घटते जाएँगे। फलस्वरूप कुछ दिनों में आबादी के अनुपात से हिंदुस्तान को मुसहलिमस्तान बनने का खतरा उत्पन्न हो जाएगा।

यह आशंका बालिग-मताधिकार के वर्तमान चुनाव ढाँचे को देखते हुए की जाती है। निकट भविष्य में न तो यह प्रजातंत्री ढाँचा रहेगा और न वर्तमान सांप्रदायिक कट्टरता के लिए कोई आधार शेष रह पाएगा। बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक क्रांति के कारण विभेद की अनेक दीवारें बिस्मार होने जा रही हैं। उनमें विभेद उत्पन्न करने वाला आज का संप्रदायवाद भी नष्ट होकर ही रहेगा। भोजन-वस्त्र में भिन्न रुचि के कारण परस्पर कोई द्वेष-दुर्भाव पैदा नहीं होता, ठीक इसी प्रकार धर्मभेद भी सामाजिक वर्गभेद पैदा कर सकने जैसा विषाक्त न रहेगा। उसके विषदंश तब तक पूरी तरह टूट चुके होंगे। वैसे पूरी संभावना एक विश्व धर्म की ही की जानी चाहिए। वर्तमान संप्रदायों की तो तब मात्र झांकी ही रह सकती है। जिस द्वेष-दुर्भाव को देखते हुए आज किसी धर्मवालों की वृद्धि की बात सोची जाती है, उस दुष्टता के लिए अगले दिनों कहीं कोई स्थान न होगा। सभी मनुष्यमात्र बनकर रहेंगे और देश की सीमित भूमि सीमा को तोड़कर विश्व राष्ट्र में सभी लोग विश्व नागरिक बनकर रहेंगे। इसके अतिरिक्त नई वैज्ञानिक एवं आर्थिक प्रगति के साथ उत्पन्न हुई समस्याओं का और कोई हल ही नहीं है। हमें उन अगले दिनों की सुनिश्चित संभावना को ही ध्यान

में रखना चाहिए कि आज के विषदंश वाले संप्रदायवाद के भविष्य में भी इसी रूप में बने रहने की आशंका को मन में से पूरी तरह निकाल देना चाहिए।

संसार में बहुमत सदा पिछड़े और मूर्ख लोगों का रहा है। यदि आज के बालिग मताधिकार वाला प्रजातंत्र आगे भी बना रहा तो कभी भी समझदार लोगों की सरकार नहीं बन सकेगी। अच्छी सरकार के लिए अच्छे मतदाता होने चाहिए। ऐसे लोग जो राष्ट्रीय उत्तरदायित्व को ठीक तरह समझ सकें और निभा सकें, आगे भी अब की ही तरह अल्प मात्रा में अल्प मत में होंगे। अगले दिनों प्रजातंत्र भले ही रहे, पर उसकी चुनाव पद्धति में ऐसा हेर-फेर होगा कि उत्तरदायित्व को समझने और सँभालने वाले लोग ही मतदान करें अथवा प्रत्याशी बनें। इसके लिए कसौटियाँ निर्धारित करनी पड़ेंगी। तभी कोई आदर्श सरकार बन सकेगी अन्यथा भीड़ का राज्य जैसा हो सकता है वैसा ही बना रहेगा। आज भले ही यह कुछ अट-पटा लगे पर यदि प्रजातंत्र को सफल होना है तो उसे इस प्रकार का सुधार-परिवर्तन करना ही पड़ेगा। उस स्थिति में यह आशंका निर्मूल सिद्ध होगी कि द्वेष-दुर्भाव रखने वाले लोग बहुमत में आकर सामाजिक न्याय में विग्रह-विद्वेष उत्पन्न करेंगे। अगले दिनों हर व्यक्ति सांप्रदायिक स्वार्थों से ऊँचा उठा हुआ होगा और उस प्रकार सोचने का करने का अभ्यासी बनेगा, जिससे न्याय या विवेक के टकराने की किसी को भी सुविधा न रहे। तब अमुक संप्रदाय के लोग घटेंगे-बढ़ेंगे नहीं, जनसंख्या में धर्म-संप्रदाय का उल्लेख भी नहीं होगा। सभी मनुष्य होंगे। उस परिवर्तन को लाए बिना तो आज का बहुमत-अल्पमत ज्यों का त्यों बना रहे; तब भी शांति नहीं आ सकती। जब पाकिस्तान बना था तब तो मुसलमानों की संख्या और भी कम थी। हिंदू और भी अधिक बहुमत में थे। तब भी विग्रह-विद्वेष फूट ही पड़ा था। यूरोप के देश प्रायः

सभी इसाई हैं तो भी इनमें आएदिन युद्ध ठनते और विग्रह उत्पन्न होते रहते हैं।

जनसंख्या नियंत्रण की विश्व-विभीषिका का सामना करने में हमें इस विकृति की आशंकाओं को ध्यान में रखकर असमंजस में पड़ने की जरूरत नहीं है। इन्हें तो अगला समय दूध में से मक्खी की तरह निकालकर फेंकने ही वाला है।

जन्मदर घटाने में इस प्रकार योगदान दीजिए

हमारे देश की जनसंख्या द्रुतगति से बढ़ती जा रही है, जिसके कारण देश की उन्नति एवं समृद्धि को एक प्रकार से संकट ही उत्पन्न हो गया है। एक ओर तो प्रति डेढ़ सेकंड के बाद एक बालक का जन्म हो रहा है, दूसरी ओर देश में जो स्वास्थ्य योजनाएँ चली हैं, उनसे मृत्यु दर में काफी कमी आ गई है। पहले प्रत्येक भारतीय की औसत आयु २३ वर्ष थी किंतु अब ५० वर्ष हो गई है और संभावना है कि जैसे-जैसे स्वास्थ्य योजनाएँ विकसित होती जाएँगी अगले १० वर्षों में वह ५५-६० वर्ष तक बढ़ जाएगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि औसत आयु तो पहले से दुगनी से भी अधिक तिगुनी तक बढ़ गई है; परंतु उसी अनुपात में जन्मदर में कमी नहीं हुई है। अतएव जनसंख्या अविराम गति से बढ़ती जा रही है।

जब तक मृत्युदर तथा जन्मदर के मध्य सामंजस्य स्थापित नहीं होगा, तब तक जनसंख्या का नियंत्रण असंभव है। जन्मदर की बाढ़ को रोकने के लिए अनेक उपाय खोजे गए हैं। कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि यदि लड़कियों के विवाह की न्यूनतम आयु २० वर्ष कर दी जाए तो जन्मदर में ३० प्रतिशत तक कमी आ जाएगी। देर से विवाह करने से कम बच्चे होंगे। अतएव इस कानून को निश्चित रूप से लागू कर दिया जाना चाहिए। जो उल्लंघन करें उन्हें सरकार दंडित करे।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या विवाह की आयु बढ़ा देने से जन्मदर में कमी आ जाएगी ? क्या देश की ग्रामीण जनता को देखते हुए यह कानून बनाना उचित है ? विवाह की आयु बढ़ाना हितकर ही होगा क्योंकि कानून के डर से लोग बाल-विवाह से विमुख होंगे तथा बड़ी आयु में विवाह होने से बालक कम होंगे। विवाह की आयु में वृद्धि ग्रामीणों के हित में भी होगी। छोटी-छोटी आयु में विवाह करने से स्त्री तथा पुरुष दोनों का शारीरिक एवं मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे दंपत्ति जिन्होंने छोटी आयु से ही अपने शरीरों को निचोड़ना प्रारंभ कर दिया, कभी नीरोग एवं स्वस्थ संतति उत्पन्न नहीं कर सकते। किशोरियाँ यदि प्रजनन करती हैं तो उनका स्वयं का जीवन भी संकट में रहता है। अस्पताल की रिपोर्टों से पता लगता है कि बीस वर्ष से कम आयु की जितनी लड़कियाँ प्रसव पीड़ा में मरती हैं, उससे चौथाई भी बड़ी आयु की स्त्रियाँ इस संकट में प्राण नहीं गँवाती। अतएव लड़कियों की जान को जोखिम में डालने वाले अभिभावक बुद्धिमान नहीं कहे जा सकते।

प्राय: देखा जाता है कि शिक्षित परिवारों में विवाह अपेक्षाकृत विलंब से होता है। कन्या अध्ययन कर रही होती है और आमतौर से कोई कानून न होने पर भी देर से ही वैवाहिक सूत्रों में आबद्ध होती है। शिक्षित युवक तथा युवतियाँ इस बात से परिचित होते हैं कि शिक्षा पूरी किए बिना, अपने पैरों पर खड़े हुए बिना विवाह करने का अभिप्राय है अपनी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों का विघटन करना तथा अर्थाभाव से दांपत्य जीवन की खुशियों को नष्ट करना। साथ ही बड़ी आयु में उनका मानसिक स्तर भी विकसित हो जाता है तथा वे यह भी भलीभाँति समझ जाते हैं कि इस महँगाई के जमाने में अधिक बच्चे उत्पन्न करने का अर्थ है दांपत्य तथा पारिवारिक जीवन की प्रसन्नताओं पर कुठाराघात,

बच्चों के भविष्य के साथ खिलवाड़ तथा राष्ट्र के प्रति द्रोह। सर्वेक्षण के अनुसार शिक्षित महिलाओं वाले क्षेत्रों में जन्मदर काफी कम पाई जाती है।

लोगों में परिवार नियोजन तथा वैवाहिक विषयों से संबंधित उत्तम साहित्य उपलब्ध कराना चाहिए, जिससे कि वे अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों से मुक्त हों। स्वतंत्र कार्य-कलाप कर सकें। शिक्षा तथा आजीविका की सुविधाएँ मिलने पर स्त्रियाँ भी स्वभावत: देर से विवाह करेंगी तथा सोच-विचारकर बालकों की संख्या बढ़ाएँगी। कम बालक होने से माता तथा शिशु दोनों का स्वास्थ्य अच्छा रहेगा तथा समाज को स्वस्थ-सबल नागरिक प्रदान किए जा सकेंगे।

परिवार नियोजन का सच्चा स्वरूप

जनसंख्या पर नियंत्रण पाने के लिए संसार के अनेक देश प्रयत्न कर रहे हैं। इनमें अमेरिका, फ्रांस, चीन आदि भी सम्मिलित हैं। भारतवर्ष में पिछले आयोजनों में लगभग १ अरब रुपया खरच हो चुका है। इस योजनाकाल में भी अरबों रुपये खरच का अनुमान है।

डॉ० मेरी स्कारलेब; सर राबर्ट्स, आर्म्सस्ट्रांग जोन्स, डॉ० हेक्टर तथा डॉ० मैकन आदि विद्वानों को यह कृत्रिम उपकरणों से संतति निरोध पसंद नहीं। वे इससे उच्छृंखलता एवं अनैतिकता बढ़ने का खतरा देखते हैं और उसके दुष्परिणामों से चिंतित हैं। सामाजिक जीवन में काम जैसे सर्वथा गोपनीय विषय को इस प्रकार सार्वजनिक चर्चा का विषय बनाना उनकी दृष्टि से उचित नहीं है। इससे मनुष्य का मन संभवत: कामेंद्रियों की ओर आकर्षित होता है, फलस्वरूप संयमी व्यक्तियों का मनोबल भी दुर्बल पड़ जाता है और वे भी कामुकता के शिकार हो जाते हैं।

मातृत्व की विडंबना—संत विनोबा का कथन है—"परिवार नियोजन के कृत्रिम उपकरणों से मैं देश का कल्याण नहीं देखता वरन इसमें आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की हार है। परिवार नियोजन में मैं मातृत्व की खुली विडंबना मानता हूँ। इसके अनुकूल सोचने पर भी मेरी राय बनी है कि यह चीज चार आश्रम की हमारी प्रतिष्ठा को उखाड़ेगी और मैं चार आश्रम स्थापना की आशा छोड़ नहीं बैठा हूँ।"

आर्य-मर्यादा के अनुसार संतति-निग्रह का आधार सर्वथा नैतिक और सांस्कृतिक है। संतान नियोजन की बात करते हुए हमारा लक्ष्य शरीर, आत्मा, मन और अंतः को बलिष्ठ बनाना होना चाहिए। यह बात वैयक्तिक आचरण और समाज के स्वस्थ रीति-रिवाजों एवं परंपराओं से ही सिद्ध होनी चाहिए। यह तभी संभव है जब मातृत्व को परिपूर्ण सम्मान मिले, इन्हें भोग और प्रजनन की सामग्री मात्र न समझा जाए। हमारी दृष्टि में काम-वासना की संतुष्टि गौण और संतानोत्पत्ति मुख्य होनी चाहिए।

मरणं बिंदु पातेन—हमारे पूर्वजों ने बहुत पहले यह चेतावनी दी थी—**मरणं बिंदु पातेन, जीवनं बिंदु धारणात्** अर्थात ऐ मनुष्यो! वीर्य नाश करोगे तो तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी। जीवित रहने के लिए वीर्यवान बनना, संयमी बनना।

परिवार नियोजन का सच्चा स्वरूप यही है। इसी में मनुष्य जीवन की सद्गति एवं सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था सन्निहित है। सुसंतति भी केवल वे ही प्राप्त कर सकते हैं जो काम-वासना को नियंत्रण में रखकर संतानोत्पत्ति करते हैं। इस संबंध में महात्मा गांधी कहा करते थे—

"हमारे उपनिषदों में कहा है कि जहाँ पति-पत्नी का संगम हुआ, वहाँ उस वीर्य के साथ एक जीवात्मा ने अपने जन्म का रास्ता

खोजा। ऐसी स्थिति में यदि संभोग हो तो उससे एक जीवात्मा को मूर्तिमान होने का अवसर मिलना ही चाहिए। यदि वह वीर्य व्यर्थ चला जाता है तो यही कहना होगा कि एक जीवात्मा की हत्या कर दी गई।''

कीथ नामक एक पाश्चात्य विद्वान ने वीर्य-रक्षा के संबंध में लिखा है—

''यह वीर्य तुम्हारी हड्डियों का सत्व, तुम्हारे मस्तिष्क का भोजन, तुम्हारे जोड़ों के लिए तेल और तुम्हारे श्वास का मिठास है। यदि तुम मनुष्य हो तो तुम्हें ३० वर्ष की आयु से पूर्व उसकी एक बूँद भी नष्ट न होने देना चाहिए।''

हम संयमी बनें—ब्रह्मचर्य की हमारे शास्त्रों में बड़ी महत्ता बताई गई है। वीर्य-रक्षा से अकथनीय सुख मिलते हैं, ऐसा वर्णन मिलता है। पर गृहस्थ जीवन में पूर्ण ब्रह्मचर्य संभव नहीं। संतान के लिए रति का विधान शास्त्र विहित है। पर उसे केवल गर्भाधान के लिए ही सीमित रखा गया है। 'भाव प्रकाश' एवं 'संस्कार विधि' में बताया गया है कि जब स्त्री रजोदर्शन से शुद्ध हो जाए तब केवल संतान की कामना से पुरुष को समागम करना चाहिए और इसके बाद उसे संतान काफी बड़ी हो जाने तक पूर्णतया संयम धारण कर रहना चाहिए। जिन लोगों की ऐसी धारणा है कि पूर्ण संयम अनिष्टकारी होता है, उनकी धारणा भ्रांत और काल्पनिक है। रायल कॉलेज, लंदन के प्रो० सर लीने वीले ने लिखा है—

''आचारशास्त्र एवं शरीर विज्ञान के नियमों से संयम और विशुद्ध पवित्रता की पूर्णतया सिद्धि होती है। यदि लोगों की इच्छा-शक्ति दृढ़ हो और वे अपनी जीवन शैली पर पर्याप्त ध्यान रखें तो कठिन से कठिन वासना पर भी नियंत्रण किया जा सकता है। काम संयम से चाहे

वह विवशता से किया गया हो अथवा स्वेच्छा से, कभी किसी को हानि नहीं पहुँची।''

संयम में ब्रह्मचर्य की बात गाँठ बाँध रखने की है। शक्तियों का कोटा सीमित है। उसे बहुत ही सोच-समझकर खरच करना चाहिए। आमदनी कम और खरच अधिक करने वाले दिवालिया बनते हैं। ऐसा न हो कि हम अति उत्साह में असंयम की दिशा में दौड़ पड़ें। इंद्रिय वासनाओं की अग्नि में अपने बहुमूल्य जीवन-तत्त्वों को जलाने लगें। विशेषतया कामेंद्रिय और संबंधित मनोविकारों पर तो कड़ाई का अंकुश रखना चाहिए। आहार की तरह विहार पर भी यदि सचमुच ध्यान रखा जा सके तो निस्संदेह हम संतति नियमन के साथ ही शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत हद तक सफल हो सकते हैं।

संयमित जीवन गृहस्थ के लिए प्रत्येक सुख-सुविधा का साधन है। काम की उच्छृंखल प्रवृत्ति से बचने के लिए इस विज्ञान की जानकारी भी होनी चाहिए। यह अनभिज्ञता भी बहुत सी बुराइयों और त्रुटियों का कारण बन जाती है। पर यह ज्ञान पूर्ण व्यावहारिक तथा आदर्श और समय के नियंत्रण में ही रहना चाहिए।

शुद्ध आहार सात्विक विचार—संयम के लिए या ब्रह्मचर्य के लिए एक बार संकल्प ले लेना ही पर्याप्त नहीं है। यदि लोगों के विचार शुद्ध न रहें तो यह संभव नहीं कि लोग देर तक संकल्प साध सकें। इसका मुख्य कारण आहार की असावधानी है। मिर्च, मसाले, गरिष्ठ पदार्थ, बासी भोजन, खटाई तथा उत्तेजक पदार्थों का अमर्यादित एवं अनियमित इस्तेमाल बहुत हानिकारक समझा गया है। चाय, काफी, शराब, मांस, अंडे, भांग, चरस तथा तंबाकू आदि मादक पदार्थ कामुकता को बहुत बढ़ाते हैं। व्यसन और वासना का जोड़ा बताया गया है।

जनसंख्या विशेषज्ञों का मत है कि जिन परिवारों में अधिक संतानें होती हैं, उनमें पुरुषों में अधिकांश नशेबाज होते हैं। यह कथन अक्षरश: सत्य है।

इस प्रकार का दूषित भोजन शरीर की नश-नाड़ियों में उत्तेजना पैदा करता है। फलस्वरूप वासना की ओर अनायास ध्यान खिंच जाता है और धीरे-धीरे वह एक आम प्रवृत्ति बन जाती है। इसलिए उत्तेजक मानसिक पदार्थों से जितना बचा जा सके अच्छा है। सात्विक भोजन से जिसमें दाल, रोटी, चावल, दूध, घी, कम मिर्च-मसालों वाली सादी शाक-सब्जी आदि हों, शरीर भी पुष्ट होता है और मानसिक उत्तेजना से भी बचना हो जाता है।

दांपत्य जीवन में पवित्रता अनिवार्य—विवाह को जो लोग वासना की पूर्ति का साधन और स्त्री को क्रीतदासी समझते हैं, उनसे बढ़कर और नीच कोई नहीं हो सकता। भारतीय संस्कृति में स्त्री को पुरुष की अर्द्धांगिनी माना गया है। उसकी सब प्रकार से रक्षा करने की शिक्षा दी गई है। सुंदर, स्वस्थ और सद्गुणी संतान के लिए बहुत आवश्यक है कि स्त्री-पुरुष के संबंध बहुत पवित्र रहें। उन्हें शारीरिक प्रेम की अपेक्षा आत्मिक प्रेम पर अधिक विश्वास होना चाहिए। संतति-नियमन का लाभ तो इस तरह एक प्रकार से गौण हो जाता है। पारिवारिक जीवन की पवित्रता अन्य असंख्य सुख-समृद्धियाँ प्रदान करती है। ऐसे परिवार सांसारिक दृष्टि से भी खूब समृद्ध होते हैं।

जिनके लड़कियाँ हों उन्हें लड़कों की हठ छोड़ देनी चाहिए। लड़कों से ही वंश चलते हों, ऐसी बात नहीं। न तो उनसे स्वर्ग और मुक्ति की आशा की जा सकती है और न नाम की। सब मनुष्य अपने गुण-कर्मों के अनुसार यश, कीर्ति एवं मोक्ष का अधिकार प्राप्त करते

हैं, इसलिए संतान को लड़के-लड़की की भेद दृष्टि से देखना उचित नहीं। लड़कियों का पालन-पोषण भी बच्चों के समान ही करना और उससे आत्मिक सुख अनुभव करना चाहिए। इस प्रकार का कारण बनाकर दूसरा विवाह कभी नहीं करना चाहिए।

संतति-निरोध का सर्वोत्तम तरीका ब्रह्मचर्य है। इससे अनावश्यक बच्चों की बाढ़ से होने वाले दुष्परिणामों से बचा ही नहीं जाता, वरन शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य-संवर्द्धन का लाभ होता है।

पर जिन्हें इतना आत्मसंयम न हो और जो अपने को इसमें असमर्थ मानते हों, वे कृत्रिम उपकरणों का भी प्रयोग कर सकते हैं। दो बुराइयों में से एक चुननी ही पड़े तो बड़ी की अपेक्षा छोटी बुराई अपनाने में भी बुद्धिमानी है। अधिक संतान का खतरा उठाना बहुत बड़ी बुराई है। इसकी तुलना में कृत्रिम उपकरणों के माध्यम से उसकी रोक-थाम करना हलकी बुराई है। जिनको अपने मन पर काबू नहीं, वे कम से कम इतना तो करें ही। प्रजनन बढ़ाकर अपनी स्त्री का स्वास्थ्य, बालकों के शिक्षण-पोषण की असहनीयता और समाज-संकट को बचाने के लिए कृत्रिम उपकरणों का सहारा लेना भी एक सीमा तक उचित ही कहा जाएगा। अधिक बच्चे पैदा करने की बुराई को पहाड़ माना जाए तो संतति-निरोध के भौतिक साधन उनकी तुलना में एक रेत के टीले की तरह ही बुरे कहे जाएँगे।

जहाँ तक हो सके ब्रह्मचर्य को ही प्रधानता देनी चाहिए। पर देर तक ब्रह्मचर्य रहने पर भी यदा-कदा प्रतिबंध तोड़ने पर भी संतान उत्पन्न होने का खतरा बना ही रहता है। इसलिए कृत्रिम साधनों का भी उपयोग कभी करना पड़े, तो उसे एक हलकी बुराई के रूप में उपयोग किया जा सकता है।

संतान की संख्या बढ़ाना आज की परिस्थिति में अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में विपत्तियों को सीधा आमंत्रण देना है। महँगाई और अपर्याप्त जीविका के कारण बच्चों के निवास, खेल-कूद के लिए स्थान कम मिलता है। उन्हें पौष्टिक भोजन नहीं मिल पाता है। महँगी शिक्षा और चिकित्सा के कारण न उनकी समय के अनुरूप ऊँची पढ़ाई की व्यवस्था बन पाती है और न चिकित्सा का समुचित प्रबंध होता है। ऐसी दशा में कौन आशा करेगा कि इन ढेरों बच्चों का समुचित विकास एवं पोषण एक औसत दर्जे का आदमी कर सकता है। उँगलियों पर गिने जाने वाले अमीरों की बात दूसरी है, सर्वसाधारण के लिए तो यह भार जितना बढ़ेगा, उतना ही असह्य बनेगा। समय कम और बच्चे अधिक होने पर उनकी ओर समुचित ध्यान भी तो नहीं दिया जा सकता। उनका स्वभाव, संस्कार, स्वास्थ्य सुविकसित करने के लिए अभिभावकों को पूरा ध्यान देना, समय और श्रम लगाना तथा पर्याप्त खरच करना चाहिए। पर यह अधिक बालकों में संभव नहीं। इसलिए वे बेचारे जंगली घास-फूँस की तरह बढ़ते, अपनी मौत मरते-जीते और संस्कारी-कुसंस्कारी बनते रहते हैं। ऐसे बालक सारे परिवार के लिए, समस्त समाज के लिए एक सिरदरद ही रहते हैं। कुमार्गगामी या अस्वस्थ हो गए, तब तो उन्हें एक विपत्ति एवं अभिशाप ही कहा जाएगा।

काम उतना ही हाथ में लेना चाहिए जो ठीक तरह निभाया जा सके। बच्चे उत्पन्न करना क्रीड़ा-विनोद मात्र नहीं है। उसके पीछे भारी उत्तरदायित्व लदे हैं। जो उसे ठीक तरह वहन कर सकने में समर्थ हैं, उन्हें ही यह बोझ उठाने का साहस करना चाहिए। अन्यथा बिना आगा-पीछा सोचे संतान बढ़ाते जाना, अपने लिए, बच्चों के

लिए और समस्त समाज के लिए संकट प्रस्तुत करने का अपराध ही माना जाएगा।

व्यक्तिगत रूप से इस उत्तरदायित्व का पालन तो हम करें ही; साथ ही समाज को भी इस प्रकार की प्रेरणा देने का कार्य हम अवश्य करें। युग निर्माण योजना की क्रियाशील शाखाओं को सामूहिक रूप से समाज को इस संबंध में नैतिक प्रशिक्षण देने के पुनीत कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। हमारे देश के बच्चे स्वस्थ, शिक्षित और सद्‌गुणी हों; इसके लिए परिवार नियोजन के नैतिक आदर्श और सिद्धांतों का प्रचार व प्रसार हम कर सकें तो यह हमारी उत्कृष्ट समाज-सेवा होगी। उसका प्रतिफल आत्मसंतोष के रूप में हमें मिलेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

❐❐

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ० प्र०)